

पंचम मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

कर्म-व्यवस्था प्रकरण

सुमेरौ पर्वते प्राय ऋषीणां दिव्य चक्षुषाम्।
मुनीनां समुदायः स भवत्येकत्रितः सदा ॥ १ ॥
लोक - कल्याण - सद्भावभरितात्मन उत्तमाः।
दिव्यवातावृतौ तत्र समस्यानां समाहितम् ॥ २ ॥
कालिकीनामन्विषन्ति विनिर्मान्ति भविष्यति।
विश्वव्यवस्थितेश्चास्याः सुव्यवस्थादियोजनाः ॥ ३ ॥
सतां समागमस्यास्य क्रमे तत्र स एकदा।
वैशम्पायन आसक्तस्तत्त्वचर्चा विधाविदम् ॥ ४ ॥
रहस्यं श्रुतवान् दिव्यं कारणं यदभूत्स्वयम्।
युगांतरस्य चैतन्यरूपे सक्रियता विधेः ॥ ५ ॥
अनन्तरं स संतोषमृषिः प्रकटयन् परम्।
विनयपूर्वकमाहैनं मार्कण्डेयं महामुनिम् ॥ ६ ॥
टीका—सुमेरु पर्वत पर प्रायः दिव्य ज्ञान संपन्न ऋषि-
मुनियों का समुदाय सत्संग प्रयोजन हेतु एकत्रित होता रहता
है। लोक कल्याण-भावना से अभिपूरित श्रेष्ठ ऋषि आत्माएँ
दिव्य वातावरण में सामयिक समस्याओं के समाधान खोजतीं
और भविष्य में विश्व व्यवस्था के सुसंचालन की योजनाएँ
बनातीं। संत समागम के इस क्रम में एक बार तत्त्व चर्चा में
संलग्न वैशम्पायन जी ने देवर्षि नारद का वह रहस्य सुना जो
युगांतरीय चेतना के रूप में सक्रिय होने के कारण था। अनंतर
उन्होंने संतोष व्यक्त करते हुए मार्कण्डेय जी से विनयपूर्वक
पूछा ॥ १-६ ॥

वैशम्पायन उवाच-

ऋषिवर्य! अनास्थाजाः संति यास्तु विभीषिकाः।
योजनानां तु दैवीनां तासां मध्ये क्रियान्वितिः ॥ ७ ॥
तत्प्रयासे तु सर्वेषां प्राप्ता वैचारिका भ्रमाः।
व्यवहारे च काठिन्यमिति निश्चीयते मया ॥ ८ ॥
किं कृतं तत्समाधातुं भवता करुणात्मना।
अनुग्राह्यो जनोऽप्येष तस्य संकीर्तनेन तु ॥ ९ ॥
टीका—वैशम्पायन ऋषि बोले हे ऋषिवर ! अनास्थाजन्य
विभीषिकाओं के बीच दैवी योजना को क्रियान्वित करने के
प्रयास में जन-जन के सामने अनेक प्रकार के वैचारिक भ्रम
और व्यावहारिक कठिनाइयों का उभार आया होगा, ऐसा मेरा
विचार है। उनके समाधान हेतु क्या किया गया? हे दयालु
कृपया उसका वर्णन कर मुझे अनुगृहीत करें ॥ ७-९ ॥

प्रज्ञापुराण में ऋषिगणों के ज्ञान समागम की अनादि

शृंखला समाहित है। उपरोक्त प्रसंग सर्वप्रथम इस शृंखला के
प्रथम खंड में नारद जी द्वारा आस्था संकट के संदर्भ में प्रस्तुत
की गई उनकी जिज्ञासा के संदर्भ में आया है जब देवर्षि
धरती पर युगांतरीय चेतना की ज्ञानगंगा प्रवाहित करने का
अनुरोध लेकर भगवान् विष्णु के पास पहुँचे थे। वैशम्पायन
मार्कण्डेय संवाद आस्था संकट अध्यात्मदर्शन की ज्ञान धारा
के प्रवाह में व्यावहारिक अध्यात्म का दिशा निर्देशन करते
हुए उन प्रसंगों पर प्रकाश डालता है, जिनके विवेचन से
लाभान्वित हो जन सामान्य आत्मिक प्रगति की दिशा में आगे
बढ़ सके, परस्पर विग्रह मिटाकर समष्टि की सेवा-साधना में
स्वयं को नियोजित कर सके।

मार्कण्डेय उवाच-

भवतो लोक कल्याणे रुचिर्या गहना मुने।
तयोपयोगि सूत्रं तत्प्राप्तं शृणु समाहितम् ॥ १० ॥
स्थितयस्त्वागता एवमन्यमन्वतरेष्वपि।
ऋषयस्तत्समाधातुं ज्ञानसत्रमयूयुजन् ॥ ११ ॥
सूत्रं महत्त्वपूर्णं तच्छृणु यस्मिंस्तु चिंतितः।
अध्यात्म-ज्ञान-संबद्धाः समस्या बहवो भृशम् ॥ १२ ॥
टीका—महर्षि मार्कण्डेय ने कहा हे महाभाग! आपकी
लोक कल्याण में जो गहरी अभिरुचि है, उसने बड़ा उपयोगी
सूत्र खोजा है। इसका समाधान सुनें। ऐसी परिस्थितियाँ अन्य
मन्वतरों में भी आ चुकी हैं। उनके समाधान के लिए ऋषियों
द्वारा ज्ञान-सत्र आयोजित किए जाते रहे हैं। इस संदर्भ में
एक अति महत्वपूर्ण सत्र जिसमें अध्यात्म-विज्ञान के अनेकानेक
पहलुओं पर चिंतन हुआ था आपको सुनाता हूँ ॥ १०-१२ ॥

महर्षिर्याज्ञवल्क्यस्य नेतृत्वे त्वेकदाऽभवत्।

ज्ञानसत्रं महर्षीणां त्रिपुरारण्यके महत् ॥ १३ ॥

सहस्राणि समायातान्यत्र सत्रे मनीषिणाम्।

तत्त्वदर्शिनृणां ब्रह्मज्ञानां प्रज्ञानृणां तथा ॥ १४ ॥

भद्रावत्यास्तु नद्यास्ते तरूणां वनशोभिनाम्।

छायायां सघनायां तु निर्मिते रम्यकुञ्जके ॥ १५ ॥

महर्षिणस्तु ते सर्वेऽगृह्णन्तस्त्रासनानि तु।

स्वस्तिवाचनमाचख्युः समूहे मंगलानि च ॥ १६ ॥

भगवत्स्मरणांते च प्रसंगे निश्चिते तथा।

क्रमश्चाल तत्रांते प्रश्नोत्तरविधौ पुनः ॥ १७ ॥

भरद्वाज ऋषिः पूर्व जिज्ञासां प्रस्तुवन् स्वकाम्।

सूत्रसञ्चालकं याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ सादरम् ॥ १८ ॥

टीका—एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य के नेतृत्व में ऋषि-

५.२ प्रज्ञोपनिषद्

मनीषियों का एक बड़ा ज्ञान-सत्र त्रिपुरारण्यक में संपन्न हुआ। उसमें हजारों प्रज्ञापुरुष, ब्रह्मचारी, तत्त्वदर्शी, ब्रह्मज्ञानी और महामनीषी एकत्रित हुए। भद्रावती नदी के तट पर वृक्षों की सघन छाया में बने सहस्र विशालकाय निकुंज में सभी मनीषियों ने अपने-अपने आसन ग्रहण किए। सामूहिक रूप से मंगलाचरण स्वस्तिवाचन का पाठ किया और भगवत स्मरण के उपरान्त निर्धारित प्रसंग पर प्रश्नोत्तर चल पड़ा। ऋषि भारद्वाज ने प्रथम जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए सत्र के सूत्र संचालक याज्ञवल्क्य जी से नम्रतापूर्वक पूछा ॥ १३-१८ ॥

भारद्वाज उवाच-

भगवन् समदर्शी स परमात्मा तु प्राणिनाम्।

क्षमताः सुविधाश्चावश्यकतारूपतो ददौ ॥ १९ ॥

स्वभावात्तैरीश्वरस्य विधेश्चापि विरुद्धगाः।

वृट्यस्तुविधीयन्ते काले प्रतिक्रिया अपि ॥ २० ॥

दृश्यते चेदमेवात्र श्रेष्ठोऽपेक्षतया नरः।

वृटीश्चाप्यधिकाः कुर्वन् महापरिणतिः भवेत् ॥ २१ ॥

अल्पज्ञैस्तै कनिष्ठैश्च क्रियन्ते वृट यस्तु याः।

ताः सम्भाव्या हि मन्यन्ते प्रमादाज्ञानसंभवाः ॥ २२ ॥

तस्या समर्थसत्तायाः तस्याः सहयोगिन एष तु।

नरस्य व्यवहारो न मान्यो बूहि रहोऽत्र किम् ॥ २३ ॥

टीका—ऋषि भारद्वाज बोले भगवन् समदर्शी परमात्मा ने प्राणिमात्र को उनकी आवश्यकता के अनुरूप क्षमताएँ व सुविधाएँ प्रदान की हैं। स्वभावतः उनसे ईश्वरीय अनुशासन के प्रतिकूल यदा-कदा भूलें भी होती रहती हैं। एवं उन कर्मों की प्रतिक्रियाएँ भी होती रहती हैं। देखा यह जाता है कि मनुष्य जैसा वरिष्ठ प्राणी अपेक्षाकृत भूलें भी अधिक करता है एवं उसके परिणाम बड़े व्यापक होते हैं। अल्पज्ञ कनिष्ठों से त्रुटियाँ हों, तो यह समझ में भी आता है, चूँकि अज्ञान-प्रमाद उनसे संभव है, पर समर्थ सत्ता के सहयोगी मनुष्य का यह व्यवहार समझ में नहीं आता। कृपया इस रहस्य का उद्घाटन करें ॥ १९-२३ ॥

अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए ऋषि ने यहाँ सृष्टि व्यापार संबंधी दो सत्त्यों का रहस्योद्घाटन किया है, साथ ही उनके आधार पर अपनी तथ्यान्वेषी बुद्धि से कुछ प्रश्न भी उठाए हैं।

वे कहते हैं कि (१) समदर्शी परमात्मा ने सभी प्राणियों को उनकी आवश्यकतानुसार सुविधाएँ प्रदान की हैं। जीव-जंतु, कीट-पक्षी आदि उन विभूतियों के आधार पर अपना निर्धारित क्रम पूरा करते रहते हैं। मनुष्य सृष्टि का सिरमौर, सिरजनहार का राजकुमार, सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। चूँकि वह श्रेष्ठ है, उसे सुविधाएँ भी उसी अनुपात में मिली हैं एवं तदनुसार स्पष्टतः उसके उत्तरदायित्व भी बड़े हैं। (२)

साथ ही साथ ऋषि यह भी स्पष्ट करते हैं कि जिसे अधिक जिम्मेदार माना गया है, उसके द्वारा भूलें होने पर उनकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही घातक होती है। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह यथासंभव सावधानी से उत्तरदायित्व भरा जीवन जीते हुए अपनी भूमिका को संपन्न करता चले। पर मनुष्य वरिष्ठ प्राणी होते हुए भी जीवन व्यवहार में सतत त्रुटियाँ होती चले, पर ब्रह्म के अनुशासन की अवहेलना होती रहे तो मन में असमंजस उठना स्वाभाविक ही है।

ईश्वर समदर्शी और निष्पक्ष न्यायकारी है, उसे न किसी से राग है, न द्वेष, उसने सृष्टि के सभी प्राणियों को उनकी आवश्यकतानुसार के अनुरूप क्षमताएँ एवं सुविधाएँ प्रदान की हैं। एक कोशकीय निम्न श्रेणी के प्राणियों से लेकर पशु-पक्षी तक सभी प्राणी प्रकृति प्रदत्त प्रेरणा से आवश्यकतानुसार अपने लिए साधन सामग्री जुटाते, जीवन रक्षा करते और वंश-चक्र चलाते रहते हैं। इन जीवधारियों को जो काय कलेवर मिला है उससे प्रकृति की इच्छा ही पूरा होती है। इनकी क्षमता मात्र इतनी ही है कि निर्धारित आयुष्य पूरा करने के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भर करते रह सकें। विचार क्षमता एवं बौद्धिक विकास के अभाव में इनसे भूलें होना भी स्वाभाविक ही है। किंतु मनुष्य जीवन इन सामान्य प्राणियों की तुलना में कहीं अधिक असामान्य है।

इस विश्व ब्रह्मांड की अजस्र शक्ति और संपदाओं में से जीवात्मा के हिस्से में जो सर्वोपरि उपहार आता है उस वैभव को मनुष्य जीवन कहा जा सकता है। दृष्टि पसारकर देखने पर प्राणी के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और कुछ तो हो ही नहीं सकती। इससे श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य संपदा ईश्वर के विभूति भंडार में और कोई है नहीं। शरीर संरचना एवं मनःसंस्थान की दृष्टि से मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत आगे है। उसे प्रकृति रहस्यों को खोज निकालने और उनके आधार पर पदार्थ वैभव का मनचाहा उपयोग करने की अद्भुत क्षमता मिली है। ज्ञान और विज्ञान के दिव्य अस्त्र-शस्त्रों से उसकी सत्ता सुसज्जित है। क्रियाशीलता विचारणा तथा भावना के तंत्रों में इतनी उत्कृष्टता भरी पड़ी है कि उनके सहारे भौतिक एवं आत्मिक संपदाओं का प्रचुर परिमाण में उपार्जन कर सकना उसके बाएँ हाथ का खेल है। गृहस्थ आनंद, आजीविका के सुनिश्चित आधार अन्य किसी प्राणी को उपलब्ध नहीं। ऐसा क्रिया कौशल और किसी के भाग्य में बदा नहीं है। उपलब्धियों को देखते हुए उसे सृष्टि का मुकुटमणि कहा जाना सर्वथा सार्थक है।

असमंजस इस बात का है कि इतना समर्थ, इतना विशिष्ट होते हुए भी जीवन संपदा को वासना, तृष्णा, अहंता जैसे क्षुद्र प्रयोजनों में खरच करते हुए मनुष्य को इन दिनों ऐसी दुर्गति

का सामना करना पड़ रहा है जिसमें शारीरिक दुर्बलता, रुग्णता से ग्रसित होकर आमतौर से अकाल मृत्यु का वरण करता है। मानसिक तनाव, असंतोष, खीज, भय, आशंका, चिंता, आक्रोश, आक्रमण जैसी उद्विग्नताओं के कढ़ाव में उबलता रहता है। कहाँ तो मनुष्य की विशिष्टता, वरिष्ठता और कहाँ पशु-पक्षियों से भी गई बीती हेयहीनता। आखिर यह आकाश-पाताल जैसा अंतर बना कैसे? आया कहाँ से? लद पड़ा क्यों कर? इन अनबूझ पहेलियों का समाधान पूछते हुए ऋषि श्रेष्ठ जनसाधारण के कल्याण हेतु अपनी जिज्ञासा सामने रख रहे हैं।

याज्ञवल्क्य उवाच—

भवतोद्बोधिते प्रश्ने प्राणिभ्य ईश्वरार्पिताः।

सुविधाः क्षमता यास्ता लभन्ते गौरवं महत् ॥ २४ ॥

जीवनं वंशचक्रं च धर्तुं योग्यास्तु प्राणिनाम्।

सर्वेषां क्षमताः संति सुविधाश्चापि ता मुने ॥ २५ ॥

करुणायास्तु प्रत्यक्षं प्रमाणं करुणानिधेः।

वर्तते परमीशस्य शब्दस्यार्थस्तु शासनम् ॥ २६ ॥

अतः शासन - सत्ताया - कारणात्सहयोगिने।

मनुष्यायातिरिक्तास्ताः क्षमताः सुविधा ददौ ॥ २७ ॥

मात्रमत्रेदृश्यऽपेक्षा सृष्टिं कर्तुं समुन्ताम्।

शोभनां च मया कुर्याज्येष्ठपुत्रस्य भूमिकाम् ॥ २८ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे तात् आपके द्वारा उभारे गए प्रश्न में प्राणियों को ईश्वर द्वारा आवश्यकता के अनुरूप सुविधाएँ एवं क्षमताएँ देने की बात बहुत महत्व रखती है। जीवन निर्वाह और वंश चक्र को चलाते रहने जितनी क्षमता सुविधा तो सभी को प्राप्त है। वह उस करुणाकर की करुणा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। परंतु ईशान् शब्द शासन करने हेतु प्रयुक्त है। अतः शासन करने वाली सत्ता के नाते ईश्वर ने अपने सहयोगी मनुष्य को कुछ अतिरिक्त क्षमताएँ और सुविधाएँ दीं, मात्र इस अपेक्षा के साथ कि सृष्टि को सुंदर, समुन्नत बनाने में ज्येष्ठ पुत्र की भूमिका निभाते हुए वह हाथ बँटाएगा ॥ २४-२८ ॥

अन्य प्राणियों को प्रकृति प्रदत्त जो काय-कलेवर मिला है उससे आत्मा या परमात्मा को कोई प्रसन्नता की या संभावना की आशा नहीं रहती। शारीरिक हलचलों के लिए आहार जुटाना और वंश रक्षा के लिए परिवार बढ़ाना यही हैं दो प्रयोजन, जिनमें हर वर्ग और स्तर के प्राणी निरत पाए जाते हैं। इन्हीं दो उपक्रमों में उनकी जीवनचर्या घड़ी के पेंडुलम की तरह झूले-झूलती रहती है। इन दोनों के लिए हर प्राणी में सामर्थ्य एवं कुशलता है। न इससे कम, न अधिक।

परंतु मनुष्य के संबंध में ऐसा नहीं है। उसका सृजन ईश्वर ने अपने वरिष्ठतम राजकुमार के रूप में किया है।

शासनाध्यक्ष अपना सुविस्तृत कार्य अकेले नहीं सँभाल पाते हैं, इसके लिए सुयोग्य पार्षदों एवं अफसरों के सहयोग की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य की गणना ऐसे ही राजकुमारों से की गई है। सहयोग वही दे सकता है जो क्षमता संपन्न हो, जिसे उपयुक्त सुविधाएँ उपलब्ध हों। इसी हेतु स्रष्टा ने मनुष्य को विभूतियों से संपन्न बनाया है और प्राणी जगत में सबसे अधिक सज्जन और जिम्मेदार माना एवं विश्वास किया है कि उसे जिस प्रयोजन के लिए विशिष्ट प्रतिभा, क्षमता एवं अतिरिक्त साधन मिले हैं, वह ईमानदारी पूर्वक उनका भरपूर सदुपयोग इस विश्व को उद्यान को अधिकाधिक समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने में करेगा और उसका हाथ बँटाएगा। किसी महामानव ने ठीक ही कहा है कि

पेट भर लेना ही मनुष्य का उद्देश्य नहीं है, कुटुंब का भरण-पोषण करना ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। अपना जीवन निर्वाह तो कुत्ता भी कर लेता है, मनुष्य को उससे उठकर सत्य व अमृत की शोध करनी चाहिए।

वरिष्ठा राज्यसत्तायाः पदासीनास्तु ये नराः।

साधनान्यधिकाराश्च तेभ्यो दीयन्त एव हि ॥ २९ ॥

उपयोगं तु तेषां ते विधास्यन्ति स्वतोमुने।

शासनस्य व्यवस्थार्थं लोकसौविध्यहेतवे ॥ ३० ॥

निजरूपे तु तैर्मात्रं वेतनं प्राप्यते नरैः।

अतिरिक्तं यदास्ते तत्परार्थं न्यास-मात्रकम् ॥ ३१ ॥

व्यामोहे च विलासे च तथोद्धतविधौ नरैः।

अपव्ययस्य मार्गेषु नोपयुक्तं तदाहृतम् ॥ ३२ ॥

तथ्यमेतत्सदाध्येयमुपलब्धसुशक्तिकैः।

मानवैर्यत एतद्धि कर्तव्यं चास्ति संमतम् ॥ ३३ ॥

टीका—राज्य सत्ता के वरिष्ठ पदासीनों को विशेष साधन तथा अधिकार इसलिए दिए जाते हैं कि उनका उपयोग शासन-व्यवस्था और लोकसुविधा के लिए करेंगे। निजी रूप से तो उन्हें निर्वाह वेतन भर मिलता है। मनुष्य को जो अतिरिक्त मिला है, वह परमार्थ प्रयोजनों के लिए दी गई धरोहर मात्र है। इसे विलास, व्यामोह, अपव्यय एवं उद्धत उपयोग में नहीं ही लगाना चाहिए। इस तथ्य को भली प्रकार ध्यान में रखना उपलब्ध शक्तियों से युक्त मानव का कर्तव्य है ॥ २९-३३ ॥

बड़े पद या गौरव जिन्हें प्रदान किए जाते हैं, उन्हें बड़ी जिम्मेदारियों से भी लाद दिया जाता है। खजाने की के पास ढेरों सरकारी रुपया रहता है, शस्त्र भांडागार का स्टोरकीपर सेना के हथियार और गोला, बारूद अपने ताले में रखता है, सेनाध्यक्षों और मंत्रियों को अनेकों सुविधा-साधन एवं अधिकार मिले होते हैं। यह विशुद्ध रूप से अमानत हैं। इन्हें निजी लाभ के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। सौंपी गई जिम्मेदारियों को ठीक तरह से परिपालन कर सकने एवं निजी रूप से

५.४ प्रज्ञोपनिषद्

जीवन निर्वाह के लिए वेतन भर मिलता है। यदि अधिकारी अपने अधिकार की वस्तुओं को निजी उपयोग में खर्च करने लगें तो यह उनका अपराध माना जाएगा और दंड मिलेगा। ठीक इसी प्रकार मनुष्य को अधिक विश्वस्त, अधिक प्रामाणिक और समझदार स्रष्टा का बड़ा पुत्र माना गया है और उसके हाथ में वे अतिरिक्त साधन धरोहर रूप में सौंपे गए हैं, जिनके सहारे ईश्वर की बनाई इस सृष्टि को और अधिक समुन्नत, सुंदर बना सके।

नर एव मतः सिद्धपुरुषो मार्गदर्शकः।

मनीषी देवदूतश्च महर्षिः क्रमशो जनैः ॥ ३४ ॥

पदान्येतानि लब्धुं च समयं प्राप्नुयुर्यथा।

सत्पात्राण्यत्रस्वीचक्रे परीक्षा पद्धतिं प्रभुः ॥ ३५ ॥

स्वतन्त्रं चिन्तनं प्रादात्कर्तृत्वं च तथैव सः।

आधारमिममाश्रित्य पात्रता सा परीक्ष्यते ॥ ३६ ॥

प्रशस्तमुपयोगं ये साधनानां प्रकुर्वते।

उत्तीर्णा तु परीक्षा तैः पदान्युच्चाणि यांति ते ॥ ३७ ॥

पार्षदास्ते प्रभोर्नूनं जायन्ते पुण्यकीर्तयः।

उन्नतेर्विञ्चिता दंड्या ये ते दुरुपयोगिनः ॥ ३८ ॥

टीका—मनुष्य जन्म के उपरांत महामानव, सिद्धपुरुष, मनीषी, मार्गदर्शक, सुधारक, ऋषि, देवदूत जैसे अन्य अनेकों स्तर एवं पद हैं। उन्हें उपलब्ध करने का अवसर सत्पात्रों को मिले इस उद्देश्य से ईश्वर ने परीक्षा पद्धति अपनाई है। हर मनुष्य को स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र कर्तव्य अपनाने का अवसर प्रदान किया है। इसी आधार पर पात्रता की जाँच पड़ताल होती है। जो साधनों के सदुपयोग की परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, वे ऊँचे पद पाते ईश्वर के पार्षद बनते हैं। जो दुरुपयोग करते हैं, वे दंड पाते और भावी प्रगति से वंचित कर दिए जाते हैं ॥ ३४-३८ ॥

पात्रता के अनुरूप अनुदान मिलने की सुव्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है। इसी परीक्षा में खरा उतरने पर लोग एक से एक बढ़कर उपहार प्राप्त करते रहे हैं। उच्च पद के इच्छुक व्यक्तियों को शारीरिक-मानसिक परीक्षण एवं लिखित और मौखिक साक्षात्कार की परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता है। इसमें उत्तीर्ण होने वाले व्यक्तियों को ही उपयुक्त पद सौंपे जाते हैं। ईश्वर भी उन्हीं व्यक्तियों का चयन करता और उनके साथ जुड़ता सघनता स्थापित करता है एवं अपने अनुदान वर्षा से उन्हें धन्य बनाता है, जो उसकी परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। चयन की स्वतंत्रता, औचित्य-अनौचित्य का वरण, यह कार्य ईश्वर ने मनुष्य के जिम्मे छोड़ा है। जीवन संपदा और उपलब्ध विभूतियों-साधनों का सदुपयोग करने वाले ही उसकी अनुकंपा का लाभ उठाते और महामानव ऋषि, मनीषी, देवपुरुष, सिद्धपुरुष बनते हैं। पात्रता के अभाव

में उत्तराधिकार आदि में मिली प्रचुर संपदा का बहुधा दुरुपयोग ही होता है क्योंकि वह पुरुषार्थ से अर्जित नहीं होती। ऐसी संपत्ति तात्कालिक रूप से भले ही किसी को आकर्षित-प्रभावित करे, अंततः दूरगामी परिणाम उसके अहितकर ही होते हैं। स्रष्टा की शाश्वत व्यवस्था है कि क्रिया की प्रतिक्रिया रूप में कर्मफल हर कर्म का मिलकर ही रहता है। ईश्वर प्रदत्त संपदा विभूतियों का जो भी दुरुपयोग करता है, उसे अनुशासन अवहेलना का दंड मिलकर ही रहता है।

किसी संत ने ठीक ही कहा है कि

मनुष्य के व्यक्तित्व को परखने के लिए दो देवदूत आते हैं एक का नाम है संकट दूसरे का वैभव। संकट हमारे धैर्य, पुरुषार्थ और साहस को जाँचता है। वैभव उदारता, नम्रता और संयम को खोजता है। जो दोनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो गया वह महामानव बनकर रहेगा।

महार्हेणानुदानेन प्रत्येकेन समस्तरम्।

दायित्वं बद्धमास्ते तन्महद् भूतिमतांस्त्वदम् ॥ ३९ ॥

क्षंतव्या एव दोषास्तु सामान्यानां नृणां सदा।

महांतस्तु प्रमादस्य ताडनाः प्राप्नुवन्त्यलम् ॥ ४० ॥

विभूतीनां प्रशस्तेऽत उपयोगे नरैः सदा।

स्वर्गो मुक्तिश्च प्राप्येते श्रेयस्यौ भाग्यसंपदे ॥ ४१ ॥

तथा दुरुपयोगे तु कठोरो दंड आश्रितः।

कर्मणस्तु व्यवस्थायां अंतरेव महामुने ॥ ४२ ॥

टीका—हे ऋषि श्रेष्ठ हर बहुमूल्य अनुदान के साथ उसी स्तर का उत्तरदायित्व भी जुड़ा होता है। मनुष्य विभूतिवान है, तो उसका उत्तरदायित्व भी महान है। छोटों की छोटी भूलें दरगुजर की जाती हैं, किंतु बड़ों को प्रमाद की बड़ी प्रताड़ना भुगतनी पड़ती है। विभूतियों का सदुपयोग होने पर मनुष्य को जहाँ स्वर्ग मुक्ति जैसे श्रेय सौभाग्य मिलते हैं, वही दुरुपयोग होने पर कर्म व्यवस्था के अंतर्गत कठोर दंड विधान भी निर्धारित हैं ॥ ३९-४२ ॥

ऋषि तीन सूत्र स्पष्ट कर रहे हैं।

(१) बड़प्पन के साथ जुड़े बड़े अधिकार।

(२) उनके साथ जुड़ी बड़ी जिम्मेदारियाँ।

(३) जिम्मेदारी निभाने पर बड़े लाभ न निभा पाने पर बड़े दंड।

सफाई कर्मचारी के अधिकार सीमित हैं, जिम्मेदारी भी सीमित है। चूक होने पर सामान्य डाँट-फटकार पर्याप्त मानी जाती है। सेनानायक के अधिकार बड़े हैं तो जिम्मेदारियाँ भी असीम हैं, तथा चूक होने पर कोर्टमार्शल से कम में छुट्टी नहीं होती।

सामान्य नाविक के अधिकार भी कम हैं। जिम्मेदारी भी कम है। नाव उलट जाने पर पैसे मारे जाने, पिटाई होने तक

ही दंड सीमित। जहाज के कैप्टेन के अधिकार बड़े हैं, पर जिम्मेदारी भी बहुत बड़ी है। जहाज डूबे तो उसे साथ ही डूबना पड़ता है।

मनुष्य भूलें न करें, उसकी सामर्थ्य का अनर्थकारी उपयोग न हो, इसके लिए परमात्मा द्वारा निर्मित व्यवस्था को ऋषि समझा रहे हैं। मनुष्य को अपना विकास गौरव अच्छा लगता है और दंडों से, क्लेश से, वह बचना चाहता है। विश्व व्यवस्था के लिए मनुष्य को विशेष क्षमताएँ उसने दी हैं, पर बीजरूप में ही दी हैं। जो उचित दिशा में चलते हैं, परमात्मा चेतना का अनुशासन पालते हैं, उनके अंदर बीजरूप क्षमताएँ विकसित होकर, गौरव एवं सुख संतोष का कारण बन जाती हैं। इस उपलब्धि के लिए मनुष्य आत्म नियंत्रित रहने के लिए जागरूक रहता है। इस धारा का अनुसरण न कर पाने पर दंड व्यवस्था लागू हो जाती है।

ऋषि कहते हैं कि कर्म और फल का स्वचालित चक्र है। ईश्वर ने विधान रच दिया है, दंड और पारितोषिक उसी विधान से स्वतः मिलते हैं। ईश्वर केवल व्यवस्था का विधायक है।

मनुष्यस्य तु व्यक्तित्वं महत्संनिहितं तु तत्।
वैभवं बीजरूपेऽस्मिन् सुविधा शक्त्यपेक्षया ॥ ४३ ॥
वैभवं वर्तते यत्तु व्यापके परमात्मनि।
आत्मारामाः प्रसुप्तं तु बोधयन्त्येनमन्ततः ॥ ४४ ॥
अनायासं प्राप्नुवन्ति सामर्थ्यान्नुच्चगानि च।
वैपरीत्ये चित्रगुप्तश्चरितं तु कुकर्मिणाम् ॥ ४५ ॥
लिखन् दंडव्यवस्थां च तत्कालं प्रकरोतिताम्।
स्वचालिता मता कर्मफलजा तु व्यवस्थितिः ॥ ४६ ॥
मनुष्यस्य तु सर्वाङ्गपूर्ण संगठने मुने।
अंतश्चेत्तोऽऽ आदत्ते चित्रगुप्तः स्वयं सदा ॥ ४७ ॥
एतदर्थं पृथक् बाह्या व्यवस्था परमात्मना।
विधीयते न कापीदं निश्चितं विद्धि मे मतम् ॥ ४८ ॥

टीका—मनुष्य का व्यक्तित्व महान है। प्रत्यक्ष सामर्थ्यों सुविधाओं की तुलना में उसके अंतराल के बीच रूप में वह समूचा वैभव सन्निहित है, जो सर्वव्यापी परमात्मा में पाया जाता है। इस प्रसुप्त को आत्मपरायण जगाते हैं और अनायास ही उच्चस्तरीय सामर्थ्य हस्तगत करते जाते हैं। इसके विपरीत कुकर्मियों का चित्रगुप्त न केवल सब कुछ अंकित करते जाते हैं वरन उसकी दंड-व्यवस्था भी हाथों-हाथ बनाता चलता है। हे तात् मनुष्य के सर्वाङ्गपूर्ण गठन में यह कर्मफल व्यवस्था पूर्णरूपेण स्वसंचालित है, जिसे चित्रगुप्त रूपी अंतःचेतना का एक अंश बिना किसी की सहायता के स्वयमेव संपन्न कर लेता है। इसके लिए परमात्मा को अलग से कोई बाहरी व्यवस्था नहीं करनी पड़ती यह मेरा निश्चित मत है ॥ ४३-

४८ ॥

और मियंता मात्र है। सृष्टि की क्रमबद्धता और समस्वरता को बनाए रखने भर का ध्यान रखता है। मनुष्य को जहाँ भले-बुरे कर्म करने की उसने स्वतंत्रता प्रदान की है वहाँ उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करने और परिणाम प्रस्तुत करने की स्वसंचालित प्रक्रिया भी साथ जोड़ दी है। पुराणों में कहा गया है कि मनुष्य के कर्मों का लेखा-जोखा चित्रगुप्त रखता है और तदनुरूप कर्मफल के दंड पुरस्कार की व्यवस्था करता है। वस्तुतः यह चित्रगुप्त और कोई नहीं, मनुष्य का अपना अचेतन मन ही है जिसकी अत्यंत संवेदनशील कोशाओं के ऊपर उसके भले-बुरे कर्म टैपरिकार्डर के फीते अथवा फोटोग्राफी की प्लेट की तरह अंकित होते रहते हैं। चेतना के इस सूक्ष्म परतों में ऐसी व्यवस्था फिट है कि वह कुविचारों, कुकर्मों का प्रतिफल स्वसंचालित पद्धति से अपने आप ही प्रस्तुत करती रहती है। यहाँ ऋषि याज्ञवल्क्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कर्मफल को झुठलाना या उससे बच निकलना किसी के लिए भी संभव नहीं है। बाहर के न्यायाधीश को भ्रम में डाला जा सकता है, पर अंतस्तल में बैठे दृष्टा की निष्पक्ष न्यायीलता कभी भी विचलित नहीं हो सकती। स्वयं के पुण्य ही उत्कर्ष-उल्लास के तथा स्वयं के पाप ही शोक-संताप के नए-नए अवसर सामने लाते रहते हैं।

अन्य महापुरुषों का भी ऐसा ही मत है
महात्मा ईशू ने भी कहा, एज यू सो, सो यू रीप जैसा बोओगे वैसा काटोगे।

कुरान शरीफ में भी लिखा है, अपने किए का हिसाब सबको देना होता है।

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम्।
प्राप्यप्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं यथा तथा।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥

—म० आश्वमे० प० अ० १८। १५

इस संसार में शुभ और अशुभ कर्मों का नाश नहीं होता, यथा खेत-खेत को प्राप्त कर पकता जाता है, फल लाता जाता है। इसी प्रकार कर्मों के पाक या फल का भी क्रम चलता रहता है। तदनुसार ही शुभ एवं अशुभ को मनुष्य कर्मानुसार प्राप्त किया करता है।

कुसंस्कारैर्व्यक्तिभिश्च संबद्धाभिर्महामुने।
परिस्थितिवशादेते वातावरण - कारणात् ॥ ४९ ॥
सामान्या ये नरास्ते तु प्रवाहमनुयान्त्यपि।
गतेषु प्रपतन्त्येते मेषा अंधा इव क्रमात् ॥ ५० ॥
विवेकी दूरदर्शी यो नीरं क्षीरं परामृशन्।
राजहंस इवादत्ते योग्यं परमहंसकः ॥ ५१ ॥
स्वकीयया प्रतिभया नैवान्धानुयान्ति ते।

५.६ प्रज्ञोपनिषद्

आभाति ध्येयमेकं यत्प्रायो विस्मर्यते नरैः ॥ ५२ ॥

टीका—हे ऋषिवर ! संचित कुसंस्कारों, सबद्ध व्यक्तियों वातावरण परिस्थितियों से घिरे होने के कारण हेय स्तर के मनुष्य प्रवाह में बहते और अंधी भेड़ों की तरह एक के पीछे एक खड्ड में गिरते चले जाते हैं। विवेकवान दूरदर्शी व्यक्ति उचित-अनुचित का नीर-क्षीर विवेक करते हैं और राजहंस परमहंसों की तरह उसी को ग्रहण करते हैं, जो योग्य है। अंधानुकरण करने से बच सकने योग्य निजी प्रतिभा होती है। हे तात् यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है जिसे प्रायः मनुष्य भूल जाता है ॥ ४९-५२ ॥

जो अगले श्लोक में स्पष्ट की गई है

ऋषि यह समझा रहे हैं कि मनुष्य भटक कैसे जाता है। मनुष्य में स्वतंत्र विवेक भी है और अनुकरण वृत्ति भी। कुसंस्कार आस-पास के व्यक्ति संगति और वातावरण के साथ वह अनुकरण वृत्ति के कारण चल पड़ता है। ऐसे लोगों को अंधी भेड़ों की संज्ञा दी गई है।

भेड़ों के आँखें होती हैं पर वे अनुकरण वृत्ति के कारण उनका उपयोग नहीं कर पातीं। आगे वाली भेड़ खड्ड में गिरे तो पीछे वाली भी उसी में जाएगी। मनुष्य भी विवेक से उचित-अनुचित का निर्णय कर सकता है, परंतु उसका उपयोग न करके कुसंस्कारों, कुसंग तथा कुभोग के पीछे अंधानुकरण वृत्ति से चल पड़ता है। दूरदर्शी विवेक राजहंस वृत्ति का उपयोग विकास करें तो इस विडंबना से बच सकते हैं।

जिन्हें मानव गरिमा का बोध होता है वे आत्मा और परमात्मा का परामर्श मानते हैं। स्वतंत्र चिंतन और साहसिक निर्धारण के धनी ऐसे व्यक्ति आदर्शवादी उत्कृष्टता का अवलंबन लेते हैं और सामान्य स्थिति में रहते हुए भी निजी प्रतिभा के बलबूते महामानव बनते तथा असाधारण उपलब्धियाँ प्राप्त करते हैं।

ईश्वरो मानवं चक्रे सहयोगिनमात्मनः।

स्वतंत्रः शासका नास्ति सृष्टेः स इति चिन्त्यताम् ॥ ५३ ॥

अर्धाधिकारमादातुं प्रभवत्येष मानवः।

स्वतंत्रश्चेतुमस्त्येष मानवो विहितो ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

परं कर्मफलं देवः स्वाधीनं निरधारयत्।

अद्य श्वो वा फलं नूनं भोक्तव्यं तस्य मानवैः ॥ ५५ ॥

लब्धुं प्रतिफलं कश्चिद् विलंबो भवतीव सः।

बीजानां परिपाकाय कालः कश्चिदपेक्ष्यते ॥ ५६ ॥

अज्ञा विलंबमालम्ब्य ब्रजन्त्येते त्वधीरताम्।

कर्मणां विधिपाकेषु संश्रिता दूरदर्शिनः ॥ ५७ ॥

जायमानाः यथाकालं क्रियाणां याः प्रतिक्रियाः।

तस्या विधि - व्यवस्थाया न ते विचलिताः क्वचित् ॥ ५८ ॥

टीका—ईश्वर ने मनुष्य को अपना सहयोगी बनाया है, न

कि इस सृष्टि का स्वतंत्र शासक। सहयोगी के नाते उसे आधे का अधिकार है। चयन की स्वतंत्रता ईश्वर ने मनुष्य को दी है, तो कर्मफल निर्धारण का तंत्र अपने हाथ में रखा है। आज नहीं तो कल सभी को कर्मफल भुगतना पड़ता है। फसल पकने की तरह प्रतिफल पाने में विलंब तो लगता ही है। अनाड़ी इसी विलंब को देखकर अधीर हो उठते हैं, किंतु दूरदर्शी कर्म विधान की सुनिश्चितता पर पूर्ण विश्वास रखते हैं और क्रिया की प्रतिक्रिया समयानुकूल उत्पन्न होने की विधि-व्यवस्था से विचलित नहीं होते ॥ ५३-५८ ॥

स्रष्टा ने मनुष्य को जितना स्वावलंबी बनाया है उतना ही परावलंबी भी। एक स्वसंचालित यंत्र की तरह कर्म करने में स्वतंत्र होते हुए भी मनुष्य परिणाम भोगने की श्रृंखला में मजबूती के साथ जकड़ा हुआ है। हर किसी को ईश्वर ने यह पूरी आजादी दी है कि जो चाहे जिस तरह सोचे या करे। साथ ही विवेक का अनुदान देकर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि चिंतन का कर्तृत्व का स्तर ही उसके सामने दंड पुरस्कार के रूप में सामने आएगा। कर्म करने का अपनी इच्छाफल देने की ईश्वरीय सत्ता की इच्छा। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। कर्म करके उसके फल से बचे रहें यह नहीं हो सकता।

यह संसार कर्मफल की सुनिश्चित विधि-व्यवस्था के आधार पर चल रहा है। जो जैसा बोता है वैसा काटता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होना एक सुनिश्चित तथ्य है। कर्म कभी बंध्य-नपुंसक नहीं होते, उनके प्रतिफल निश्चित रूप से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य जो भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है। समय लग सकता है, आज का फल आज न मिलने से व्यक्ति भ्रम में पड़ सकता है और यह सोच सकता है कि बुरे कर्म दंड से बच गए या भला कर्मफल निष्फल चला गया, पर वस्तुतः ऐसा होता कभी नहीं। माली का बगीचा, किसान का खेत, विद्यार्थी का अध्ययन, परिपुष्टि आकांक्षा का व्यायाम, उद्योगी का व्यापार आरंभ से ही फल नहीं देने लगते हैं। उसमें समय लग जाता है तुरंत या कालांतर में इसका रहस्य अविज्ञात होने के कारण प्रत्यक्षवादी, बालबुद्धि, उतावले लोग अनास्थावान हो उठते हैं। पर दूरदर्शी इसे सृष्टि का विधान समझकर धैर्य रखते और उपयुक्त समय आने की प्रतीक्षा करते हैं।

ऋषिः पप्रच्छ जिज्ञासुर्भरद्वाजो विवेचनाम्।

इमां श्रुत्वा सपद्येष लोककल्याणम् संयुताम् ॥ ५९ ॥

भारद्वाज उवाच—

भगवन्नीश्वरस्यास्यां सृष्टौ सर्वो व्यवस्थितः।

क्रमो यतश्च सुस्पष्टः कारणं किं वरो नरः ॥ ६० ॥

विचारक्षमतायुक्तः क्रमं बोद्धुं भ्रमं व्रजेत् ।
विस्मृतिं व्यवहारे स आचरत्यपि सर्वदा ॥ ६१ ॥
विडंबनाया हेतुः को दूरीकर्तुं च तं पुनः ।
रहस्यं किं विचार्यैतद्दयालो दयया वद ॥ ६२ ॥

टीका—जिज्ञासु ऋषि भारद्वाज ने लोक कल्याण युक्त इस विवेचना को सुनकर तत्काल प्रश्न उठाया । भारद्वाज बोले, भगवन ! जब ईश्वर की इस सृष्टि में हर क्रम सुव्यवस्थित एवं सुस्पष्ट है, फिर क्या कारण है कि मनुष्य जैसा विचार क्षमता संपन्न प्राणी उस क्रम को समझने में भ्रमित होता और व्यवहार में भूल करता है । इस विडंबना का कारण और उसके निवारण का मर्म विचार कर कृपया स्पष्ट करें ॥ ५९-६२ ॥

परमात्मा ने संसार को एक निश्चित उद्देश्य रखकर बनाया है और प्रत्येक जीवधारी को उसकी पूर्ति के लिए किसी न किसी प्रकार का सहायक नियुक्त किया है । विश्व ब्रह्मांड के सभी घटक विशाल अंतरिक्ष के समस्त ग्रह-नक्षत्र, सूर्य, चंद्र, तारे, आकाश गंगाएँ सभी सुव्यवस्थित विधि-व्यवस्था के अंतर्गत परिभ्रमण करते हुए एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर गतिमान हैं । सारा प्रकृति चक्र, संपूर्ण संसार एक निश्चित व्यवस्था पर ठीक ठिकाने चल रहा है । अनियमितता, अस्तव्यस्तता, अव्यवस्था और अपने लक्ष्य से भटकाव इनमें कहीं भी नजर नहीं आता । भोगयोनिके माने जाने वाले मनुष्येतर प्राणियों को भी सृष्टि व्यवस्था का व्यतिक्रम करते नहीं देखा जाता । वे प्रकृति प्रेरणावश अपना जीवन चक्र पूरा करते, वंश बढ़ाते, मरते मिटते और उपजते रहते हैं ।

मनुष्य कर्मयोनि का प्राणी है । भोगयोनि के प्राणी तो अपने पूर्वकृत कर्मों का ही परिणाम या दंड भोगते हैं, परंतु स्रष्टा ने अपने अंशधर मनुष्य को अपने जीवन में कर्मों की स्वतंत्रता प्रदान की है । उसे बुद्धि, विद्या, बल और विवेक की अनेकानेक उच्चस्तरीय क्षमताएँ दी हैं । मनुष्य जीवन का भी अपना एक सुनिश्चित लक्ष्य है । मनुष्य शरीर नहीं आत्मा है । आत्मा अनेक योनियों में भ्रमण करती हुई मनुष्य जीवन में आती है । आत्मोत्कर्ष और लोकमंगल जैसे कुछ विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपकर उन्हें पूरा करने के लिए निश्चित अवधि का समय देकर उसे जीवनयात्रा पर भेजा जाता है, किंतु मनुष्य है यह सब जानते हुए भी भ्रमित होता है और महत्वहीन तथा निर्मूल्य सुख-साधनों के प्राप्त होते ही अपने आपको भूल बैठता है एवं अपनी विशिष्टताओं, क्षमताओं और दायित्वों की स्मृति खो बैठता है ।

ऋषि भारद्वाज यहाँ जिज्ञासा प्रकट करते हुए याज्ञवल्क्य जी से उन विसंगतियों-विडंबनाओं का कारण पूछते हैं जिनमें

उलझकर मनुष्य मात्र लौकिक कामनाओं तथा इंद्रिय भोगों तक ही सीमित रह जाता है, आत्मोत्थान की बात सोचता तक नहीं । इनका निवारण कैसे हो ?

याज्ञवल्क्य उवाच—

ऋषिवर्य ! जगत्सर्वं प्रकाशं तमसोरिदम् ।
विप्रतिषिद्धयोरेव तत्त्वयोर्निर्मितं मतम् ॥ ६३ ॥
उभयोः स्वं स्वमस्त्येव सामर्थ्यं तेन प्राणिनः ।
अनुकर्षत इत्थं च दूरदर्शी नराः सदा ॥ ६४ ॥
उचितानुचिते वीक्ष्योचितं केवलमर्जयेत् ।
नियंतो हेतुनानेन मानवे क्षमता अदात् ॥ ६५ ॥
स्वं भाग्यं च भविष्यच्च निश्चेतुं परिवर्तितुम् ।
उत्थानं देवशक्तिः सा पतनं दानवी तथा ॥ ६६ ॥
दानवस्य प्रलोभैर्यो मुच्यते देवसन्निधिम् ।
याति स विंदते श्रेयः सौभाग्यं चापि मानवः ॥ ६७ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य जी बोले हे ऋषिश्रेष्ठ यह संसार प्रकाश और अंधकार जैसे दो परस्पर विरोधी तत्वों से मिलकर बना है । दोनों की अपनी-अपनी सामर्थ्य है । प्रत्येक अपनी ओर खींचता है । मनुष्य की दूरदर्शिता इसी में है कि वह उचित और अनुचित से भरे-पूरे इस बाजार में से मात्र उचित को ही खोजें-खरीदें । इसी उद्देश्य से नियंता ने मनुष्य को अपने भाग्य और भविष्य को निर्धारित परिवर्तित करने की क्षमता प्रदान की है । उत्थान की शक्तियों को देव और पतन की शक्तियों को दानव कहते हैं । दानव के प्रलोभनों से जो बच सकता है वही देव का सान्निध्य सहयोग पाता है और श्रेय सौभाग्य का अधिकारी बनता है ॥ ६३-६७ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि इस सृष्टि की संरचना दो परस्पर विरोधी तत्वों से हुई है । सत् और तम् के जड़-चेतन के समन्वय से ही यह संसार बना है । रजोगुण तो इन दोनों का वैसा ही समन्वय है, जैसे रात्रि और दिन के समन्वय से बना संध्याकाल । यहाँ हर चीज के दो रूप हैं, बाहर कुछ भीतर कुछ । इसे ही भवसागर कहा गया है । इसमें सत् अर्थात् देवत्व की अभ्युदय कारक दिव्य शक्तियाँ तथा जड़ अर्थात् असुरता की पतनकारक दोनों ही शक्तियाँ विद्यमान हैं । यहाँ प्रकाश और अंधकार, श्रेय और प्रेय, स्वार्थ और परमार्थ के दो मार्ग हैं जो विपरीत दिशाओं में चलते हैं । इन्हें ही पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, प्रशंसा-निंदा, शांति-अशांति, बंधन और मोक्ष आदि नामों से जाना जाता है । दोनों की शक्ति प्रचंड है । प्रतिकूल प्रकृति के होने से दोनों परस्पर लड़ते भी रहते हैं । असुरत्व और देवत्व में निरंतर संघर्ष इसलिए होता रहता है कि जीवन संपदा पर अधिकार जमाने के लिए दोनों की ही प्रबल चेष्टा रहती है । देव पक्ष मनुष्य को अपनी तरह दिव्य जीवन जीने, ऊँचा उठने और अनुकरणीय आचरण अपनाने

५.८ प्रज्ञोपनिषद्

की सतत प्रकाश प्रेरणा देता रहता है, तो असुरता की पाशविक प्रवृत्तियाँ अपनी ओर आकृष्ट किए रहती हैं। असुरता तात्कालिक वासना और तृष्णा की तृप्ति चाहती है। इंद्रिय उपभोग की वासना लिप्सा में सतत उलझाए रखकर जीवन रस निचोड़ती रहती है और अंततः पतन के गर्त में धकेल देती है।

आसुरी और दैवी शक्तियों के संघर्ष में हमें किसका पक्षधर बनना है, इसका निर्णय स्वयं ही करना पड़ता है। विवेकवान्, दूरदर्शी, उज्ज्वल भविष्य को देखते हैं और असुरता के आकर्षक प्रलोभन से बचते हैं। आत्मा की पुकार तमसो मा ज्योतिर्गमय का अनुसरण करते हुए श्रेय मार्ग का अवलंबन लेते हैं। निश्चय ही वे बड़भागी सत्पुरुष महामानव, ऋषि, देवदूत बनकर पूर्णता के चरम लक्ष्य तक पहुँचते हैं।

मनुष्यान्तः स्थिता यास्ता आसुर्यः शक्तयो नरम्।

कुमार्गगामिनं कुर्वन्त्यादायैनं तथा स्थितौ॥ ६८ ॥

कारयन्त्यो दुराचारं पतने च पराभवे।

अंते नरकयोः कष्टपूर्णयोः प्रक्षिपन्ति च॥ ६९ ॥

अस्माच्च विपरीतं या दैवी प्रोक्ता तु प्रेरणा।

उत्कृष्टतां समादातुं सा तु योजयते नरम्॥ ७० ॥

सद्विचारान् गृहीतुं च सन्मार्गे चलितुं तथा।

प्रेरयत्यथ ये गृह्णन्त्येतान्येते स साधना॥ ७१ ॥

देवत्वमधिगच्छन्तस्तेषां स्वर्गं प्रयांति च।

जीवन्मुक्ताश्च जीवन्ति दिव्यं श्रेयोऽन्विताः सदा॥ ७२ ॥

कतरो मानवैर्देवासुरयोरनुगम्यताम्।

स्वकीयं मानवस्येदं चयनं यत्र जीवति॥ ७३ ॥

एतच्चयनमेवांत उत्थानं पतनं तथा।

परिस्थितिवशात् कर्तुं प्रभवत्यञ्जसा ध्रुवम्॥ ७४ ॥

टीका—मनुष्य की अंतःस्थिति आसुरी शक्ति याँ उसे कुमार्ग पर चलने के लिए ललचाती हैं और वैसे ही वातावरण तक ले पहुँचती हैं, कुकर्म कराते हुए अंततः पतन-पराभव के कष्टदायी नरक में धकेल देती है। इसके विपरीत देवों की प्रेरणा देते हैं। जो उसे अपनाते हैं, उन्हें वे तदनुरूप साधन सहयोग की भी कमी नहीं रहने देते। देवत्व अपनाने वाले उन्हीं के स्वर्गलोक में जा पहुँचते हैं और जीवनमुक्त की तरह दिव्य जीवन जीते हैं और श्रेय-सौभाग्य पाते हैं। देव और असुर दोनों में से किसका अनुसरण किया जाए, यह मनुष्य का अपना चुनाव है, जिसमें उसको जीना है। यह चुनाव ही अंततः उत्थान-पतन की परिस्थितियों का सरंजाम खड़ा कर देता है ॥ ६८-७४ ॥

मनुष्य की अंतरात्मा में देव और दैत्य दोनों पक्षों का निवास है। इन्हें दैवी एवं आसुरी प्रकृति भी कहते हैं। मनुष्य की वे सारी क्रियाएँ और प्रक्रियाएँ जो उसे अंधकार, ध्वंस

अथवा पतन की ओर ले जाती है, आसुरी वृत्तियाँ कहलाती हैं और जो क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ, प्रकाश, सृजन और उत्थान की ओर प्रेरित करती हैं, वे दैवी वृत्तियाँ मानी गई हैं। दैवी शक्ति याँ मनुष्य को परिश्रम, पुरुषार्थ, त्याग, प्रसन्नता, उदारता, आस्था, आशा, उत्साह तथा मर्यादा आदि सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने उन्हें गुण, कर्म, स्वभाव का अंग बनाने, देवत्व की गरिमा को धारण करने को प्रेरित करती हैं। जबकि असुरता का पक्ष मनुष्य को आलस्य, प्रमाद, स्वार्थ, लिप्सा, निरुत्साह, निराशा, आवेश, उत्तेजना अथवा अदक्षता जैसे दोषों में लाद देता है और पतन-पराभव की ओर ले जाता है। असुर मायावी होते हैं। इंद्रिय सुखों का लालच देकर वह अपना जाल फेंकता है और अपने मायापाश में जीव को बाँध लेता है। उसके पास काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता के वासना, तृष्णा, अहंता के और कितने ही सम्मोहक अस्त्र हैं, जिनसे वह मूर्च्छित करके मनुष्य को उस पाश में बाँध लेता है जिससे निकलने की इच्छा भी नहीं होती। उसी में पड़े रहने को जी चाहता है। संसार के अधिसंख्य प्राणी इसी स्थिति में पड़े-पड़े बिलबिलाते और बिलखते रहते हैं तथा नाना प्रकार के नारकीय त्रास भुगतते रहने को बाध्य होते हैं।

मनुष्य दैवी और आसुरी दोनों शक्तियों का समन्वित रूप है। वह बंधन और मुक्ति, स्वर्ग और नरक की ओर जाने वाले दोनों दिशाओं के मिलन बिंदु पर खड़ा है। साधन और सहयोग उपलब्ध कराने वाले देवता और दैत्य भी मिलन मार्ग पर आमने-सामने मौजूद हैं। मनुष्य इस बात के लिए सर्वथा स्वतंत्र है कि वह जिसे प्रिय समझे अपनी रुचि के अनुसार उसी की गोद में जा बैठे। दोनों में से किसी का भी चुनाव कर लें। वह चाहते तो श्रेय मार्ग पर चलते हुए मानवता की महानताओं को अपना कर देवत्व की उच्च श्रेणी तक पहुँचकर स्वर्गीय परिस्थितियों का रसास्वादन करता रह सकता है। इसके विपरीत अपनी इच्छानुसार प्रेय मार्ग पर चढ़कर अपने पद से च्युत हो सकता है। पशुता का वरण करते हुए अंततः असुरता की स्थिति में पहुँचकर नरक जैसी अशांत एवं क्षुब्ध मनोदशा के उद्वेगों में झुलसता रह सकता है।

दोषाणां दुर्गुणानां च वारणं सत्प्रवृत्तिजाः।

धर्तुं च संपदा दैवीः पौरुषं पात्रतोदयः॥ ७५ ॥

अध्यात्मसाधनारूपे चलिता बहवस्तु ये।

विधयः कर्मकांडाद्यास्तत्त्वं तत्रेदमस्फुटम्॥ ७६ ॥

सिद्धांताः प्रगतेरेते भौतिकस्य भवन्ति च।

साफल्यहेतवो येन आत्मोत्कर्षोऽधिगम्यते॥ ७७ ॥

रहस्यमेतद् यैर्ज्ञातं सत्यं जानन्ति ते नराः।

सत्यमार्गस्थिताः संति गजसाहस्रशक्तिकाः॥ ७८ ॥

लुठन्ति सिद्धयस्तेषां चरणेषु भवन्ति ते।

वर्चस्ववैभवाधीशा अनुकार्या नृणां स्तुता ॥ ७९ ॥

सहयोगिन ईशस्य भूमिकां कुर्वतां नराः ।

स्वयं तरंति तेऽन्याँश्च तारयन्त्यपि निश्चितम् ॥ ८० ॥

टीका—दोष-दुर्गुणों का निवारण और सत्प्रवृत्तियों की दैवी संपदा को धारण करने की पात्रता का अभिवर्द्धन ही परम पुरुषार्थ है। अध्यात्म साधना के रूप में प्रचलित अनेकानेक कर्मकांडों और विधि-विधानों के पीछे छिपा हुआ उद्देश्य एवं सार तत्व यही है। प्रगति के यही सिद्धांत भौतिक जीवन की सफलता के कारण बनते हैं और इन्हीं को अपनाने से आत्मोत्कर्ष का परम लक्ष्य प्राप्त होता है। जो इस रहस्य को समझते हैं, वे ही सत्य को जानते हैं। सही मार्ग को अपनाते और सत्य में रहने वाले हजार हाथियों के बल से सुसंपन्न बनते हैं। सिद्धियाँ उनके चरणों में लोटती हैं। इसी जीवन में वैभव और वर्चस्व के अधिष्ठाता बनकर अपना अनुकरणीय उदाहरण सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत करते हैं। ईश्वर के सहयोगी की भूमिका संपन्न करते हुए वे स्वयं तरते और दूसरों को तारते हैं ॥ ७५-८० ॥

ऋषि यहाँ कहते हैं कि जन्म-जन्मांतरों से संग्रहीत पशु प्रवृत्तियों के सघन कुसंस्कारों, क्षुद्र वासनाओं को निरस्त करना, कुत्साओं और कुंठाओं के नरक से निकालकर चिंतन चेतना को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए परिष्कृत दृष्टिकोण एवं विवेक सम्मत कार्यपद्धति का निर्धारण करना यही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। ईश्वर स्मरण, पूजा, पाठ, जप, ध्यान, सत्संग, सेवा, तीर्थसेवन आदि उपासनात्मक क्रिया-कृत्यों के माध्यम से मनःस्थिति को दिव्य बनाया और उस आधार पर देव संस्कारों की स्थापना की जाती है। उच्चस्तरीय आस्थाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं की अंतःकरण में सघन स्थापना करने और निरंतर सत्चिंतन एवं श्रेष्ठ कर्मों के साथ अपने को बाँधे रहने वाले ही सुसंस्कारों की संपदा अर्जित कर पाते हैं। मानव जीवन की आधारशिला सत्य की नींव पर रखी गई है, उसका लक्ष्य सत्य की खोज करना है। इस यथार्थता को जानने वाले अपने जीवन में मन, वचन और कर्म में एकता रखते हैं तथा इसी जीवन में सत्यनारायण भगवान की समीपता पाते एवं स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि और समृद्धि के अधिकारी बनते हैं।

जिज्ञासवोऽत्र संदर्भे सारं चिन्तनजं त्विदम् ।

स्वयमेवास्ति भाग्यस्य विधाता स्वस्य मानवः ॥ ८१ ॥

यज्जीवाय प्रभुस्तस्य पातोत्थान द्वयोरपि ।

स्वातन्त्र्यं प्रददौ ज्ञानं कौशलं च परीक्षितम् ॥ ८२ ॥

उत्तीर्णास्तु परीक्षायां ये तेऽभ्युदयमार्गगाः ।

भवन्ति तैश्च प्राप्यन्ते दिव्योपहृतिभूतयः ॥ ८३ ॥

व्यतिकुर्वन्ति दैवं ये त्वनुशासनमेव हि ।

पतनस्य महागते ते पतन्ति नरा ध्रुवम् ।

टीका—हे जिज्ञासुओ! इस संदर्भ में चिंतन का सार-निष्कर्ष यही है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। जीव को अपने उत्थान और पतन की पूर्ण स्वतंत्रता देकर ईश्वर ने उसके विवेक और कौशल को परखा है। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, वे अभ्युदय के मार्ग पर अग्रसर होते हैं और दिव्य उपहारों की विभूतियाँ प्राप्त करते हैं। जो दैवी अनुशासन का व्यतिरेक करते हैं, वे पतन के गर्त में निश्चित रूप से गिरते हैं ॥ ८१-८४ ॥

यहाँ ऋषि प्रथम दिन के चार सत्र का सार-निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट करते हैं कि मानव जीवन पुरुषार्थवाद एवं कर्मवाद पर आधारित है। स्रष्टा किसी का भाग्य नहीं लिखता, क्योंकि वह समदर्शी और निष्पक्ष न्यायकारी है। अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं हैं। जिस प्रकार कल का जमाया हुआ दूध आज दही बन जाता है, उसी प्रकार कल का पुरुषार्थ आज भाग्य बनकर प्रस्तुत होता है। भाग्य और कुछ नहीं पुरुषार्थ की छाया मात्र है। आत्मा का सुनिश्चित विश्वास पुरुषार्थ के ऊपर है और वह उसी की प्रेरणा निरंतर प्रस्तुत करती रहती है। उसके भीतर अनंत शक्तियों का समुद्र लहरा रहा है। अपनी शक्तियों का सदुपयोग करने एवं आंतरिक तथा बाह्य जीवन में अनुशासन का परिपालन करने वाला हर मनुष्य सभी प्रकार की उन्नति, सफलता, विकास और प्रगति को प्राप्त कर सकता है, पुरुषार्थ में परिस्थितियों को बदल डालने की पूरी-पूरी सामर्थ्य विद्यमान है। जिस प्रकार हिमालय का वक्ष चीरकर निकलने वाली गंगा अपने प्रियतम समुद्र से मिलने का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए तीर की तरह बहती सनसनाती बढ़ती चली जाती है और उसका मार्ग रोकने वाले चट्टान चूर-चूर होते चले जाते हैं, उसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य अपने लक्ष्य को अपनी तत्परता एवं प्रखरता के आधार पर प्राप्त कर सकता है। हर अवरोध को उसका रास्ता छोड़कर हटना पड़ता है।

भाग्य का दूसरा नाम कर्म भी है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल मिलता है। जैसा बोते हैं उसी तरह फसल काटने को मिलती है। वस्तुतः इस जगत का आधार ही कर्म पर अवलंबित है। गंभीरतापूर्वक अपनी कार्यपद्धति एवं विचारधारा में रहने वाली त्रुटियों को ढूँढ़ने और सुधारने के लिए तत्परतापूर्वक कटिबद्ध होने वालों का भाग्योदय होकर रहता है। वे भाग्यवान बनकर रहेंगे, यह एक सुनिश्चित विधान है। इसके विपरीत पुरुषार्थ रहित भाग्य भरोसे बैठे रहने वाले अकर्मण्य व्यक्ति अपने परलोक और पुनर्जन्म को अंधकारमय बनाकर आत्मा को असंतुष्ट और परमात्मा को अप्रसन्न रखते हैं तथा नारकीय जीवन जीने को विवश होते

५.१० प्रज्ञोपनिषद्

हैं।

प्रथमस्य दिनस्यास्या जिज्ञासायाः समाहितम्।

महत्त्वमहितायाः स ऋषिवर्यो यथाऽऽदे ॥ ८५ ॥

मनीषिणस्तदाकर्ण्य सर्वेसंतोषमागताः ।

संदेहा निर्गता ज्ञानदृष्टिरुन्मेषमभ्यगात् ॥ ८६ ॥

इयत्यपि प्रसंगेऽस्मिन् बोद्धुं तेषां महात्मनां ।

जिज्ञासात्वविशिष्टा सा परं मौनमुपागताः ॥ ८७ ॥

टीका—प्रथम दिन की अत्यंत महत्वपूर्ण जिज्ञासा का समाधान महर्षि याज्ञवल्क्य ने जिस प्रकार किया, उसे सुनकर सभी मनीषियों को बहुत संतोष हुआ। भ्रम-संदेह दूर हुए और ज्ञान-कपाट खुले। इतने पर भी इस प्रसंग में अधिक

जानने की जिज्ञासा बनी रही, तथापि मौन रहे ॥ ८५-८७ ॥

सायंकाले समायाते यथा नियममेव च ।

प्रथमस्य दिनस्येदं समाप्तं सत्रमुज्ज्वलम् ॥ ८८ ॥

जिज्ञासवस्तु ते कर्म सान्ध्यं कर्तुं च नैतिकम्।

परस्परं नमन्तोऽयुः कुटीरान् ब्रह्मचिन्तनाः ॥ ८९ ॥

टीका—सायंकाल निकट आने पर नियमानुसार प्रथम दिन का महत्वपूर्ण ज्ञान सत्र समाप्त हुआ। सभी जिज्ञासुगण सायंकाल का नित्य नियम संपन्न करने के लिए परस्पर वंदन-अभिवादन करके ब्रह्मचिंतन करते हुए अपने-अपने आश्रम कुटीरों की ओर चले गए ॥ ८८-८९ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शन - युगसाधना प्रकटीकरणयोः,

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते कर्म व्यवस्था इति प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥